

आचार्य जे. बी. कृपलानी और भारतीय संसदीय लोकतंत्र: विपक्ष, जवाबदेही, असहमति और नागरिक स्वतंत्रता का ऐतिहासिक अध्ययन

¹प्रीति, ²डॉ. कुमारी सुमन

¹शोधार्थी, ²सहायक प्रोफेसर

¹²इतिहास विभाग

¹²बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, अस्थल बोहर, रोहतक, हरियाणा

सारांश—आचार्य जे. बी. कृपलानी स्वतंत्र भारत के उन प्रमुख नेताओं में थे जिन्होंने सत्ता से बाहर रहते हुए संसदीय लोकतंत्र, राजनीतिक जवाबदेही और नागरिक स्वतंत्रता के प्रश्नों को लगातार उठाया। कांग्रेस के लंबे संगठनात्मक अनुभव, 1946-47 की अध्यक्षता, स्वतंत्रता के बाद पार्टी-सरकार संबंधों पर मतभेद, कांग्रेस से अलगाव, किसान मजदूर प्रजा पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी से जुड़ाव, संसद में सक्रिय हस्तक्षेप, 1963 के प्रथम अविश्वास प्रस्ताव तथा 1975-77 के आपातकाल के दौरान नागरिक अधिकारों की रक्षा से उनका राजनीतिक जीवन जुड़ा रहा। प्रस्तुत शोध-पत्र कृपलानी की भूमिका को किसी राजनीतिक पक्ष की प्रशंसा या आलोचना के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय संसदीय लोकतंत्र के संस्थागत विकास के ऐतिहासिक संदर्भ में विश्लेषित करता है। अध्ययन का आधार संबंधित शोध-प्रबंध तथा भारतीय पार्टी-व्यवस्था, संसदीय विपक्ष, आपातकाल और लोकतांत्रिक जवाबदेही पर उपलब्ध शोध-पत्र हैं। लेख का तर्क है कि कृपलानी की संसदीय विरासत को चार आयामों में समझा जा सकता है: पार्टी और सरकार के संबंधों पर बहस, विपक्ष की वैधता और भूमिका, संसद के माध्यम से कार्यपालिका की जवाबदेही, तथा नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा। साथ ही उनकी राजनीति की सीमाओं—कमज़ोर चुनावी आधार, वैचारिक गठबंधनों की कठिनाइयाँ और आदर्शवाद तथा व्यावहारिक राजनीति के बीच तनाव—पर भी चर्चा की गई है।

मुख्य शब्द—जे. बी. कृपलानी, संसदीय लोकतंत्र, विपक्ष, अविश्वास प्रस्ताव, नागरिक स्वतंत्रता, कांग्रेस प्रणाली, आपातकाल

I. प्रस्तावना

भारतीय लोकतंत्र की शुरुआती दशकों की चर्चा प्रायः कांग्रेस के प्रभुत्व, जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व और संविधान-निर्माण की संस्थागत उपलब्धियों के संदर्भ में की जाती है। इस व्यापक कथा में विपक्षी नेताओं की भूमिका कभी-कभी सीमित दिखाई देती है, जबकि संसदीय लोकतंत्र की कार्यशीलता के लिए सत्ता और विपक्ष दोनों आवश्यक घटक हैं। आचार्य जे. बी. कृपलानी इस संदर्भ में विशेष महत्त्व रखते हैं। वे स्वतंत्रता आंदोलन के केंद्रीय संगठनकर्ता रहे, स्वतंत्रता के समय कांग्रेस के अध्यक्ष थे, पर स्वतंत्रता के बाद शीघ्र ही सत्तारूढ़ कांग्रेस नेतृत्व से अलग हो गए। इसके

बाद उन्होंने कई दशकों तक संसद और सार्वजनिक जीवन में सरकार की नीतियों, पार्टी-सरकार संबंधों, केंद्रीकरण, नागरिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक जवाबदेही पर प्रश्न उठाए।

भारतीय पार्टी-व्यवस्था पर कोठारी (1964) का प्रसिद्ध विश्लेषण शुरुआती दशकों को एक-दलीय प्रभुत्व वाले, लेकिन प्रतिस्पर्धी 'कांग्रेस सिस्टम' के रूप में समझाता है। ऐसी व्यवस्था में विपक्ष संख्या में कम होते हुए भी राजनीतिक दबाव, बहस और वैकल्पिक विमर्श का स्रोत था। कृपलानी की भूमिका इसी संदर्भ में समझी जा सकती है। वे सरकार गिराने की क्षमता वाले नेता हमेशा नहीं रहे, पर उन्होंने संसदीय नियंत्रण और सार्वजनिक आलोचना की वैधता को स्थापित करने में योगदान दिया।

प्रस्तुत शोध-पत्र कृपलानी को 'सबसे श्रेष्ठ' या 'सबसे निर्णायक' विपक्षी नेता के रूप में रैंक नहीं करता। इसके बजाय उनका विश्लेषण ऐतिहासिक घटनाओं, संसदीय व्यवहार और उपलब्ध शोध-साहित्य के आधार पर किया गया है। विशेष ध्यान 1947 के बाद पार्टी-सरकार संबंध, विपक्ष की अवधारणा, 1963 का अविश्वास प्रस्ताव, नागरिक स्वतंत्रता और 1975-77 के आपातकाल के दौर पर है।

II. अध्ययन की पद्धति और स्रोत

यह शोध ऐतिहासिक-व्याख्यात्मक पद्धति पर आधारित है। संबंधित शोध-प्रबंध में कृपलानी की राजनीतिक यात्रा, कांग्रेस से मतभेद, किसान मजदूर प्रजा पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, संसदीय जीवन, प्रथम अविश्वास प्रस्ताव और आपातकाल के समय उनकी भूमिका का विस्तृत वर्णन है। इन विवरणों को संसदीय विपक्ष और भारतीय पार्टी-व्यवस्था पर उपलब्ध शोध-पत्रों से मिलाकर विश्लेषित किया गया है।

किसी भी राजनीतिक व्यक्तित्व का अध्ययन करते समय जीवनीपरक प्रशंसा और आलोचनात्मक विश्लेषण के बीच अंतर रखना आवश्यक है। इसलिए इस लेख में तीन सिद्धांत अपनाए गए हैं। पहला, कृपलानी के विचारों को उनके समय के संस्थागत संदर्भ में पढ़ा गया है। दूसरा, उनके दावों और नीतिगत आलोचनाओं को ऐतिहासिक स्थिति के रूप में प्रस्तुत किया गया है, न कि वर्तमान राजनीतिक निर्णय के रूप में। तीसरा, उनकी सीमाओं और असफलताओं को भी विश्लेषण में शामिल किया गया है।

III. कांग्रेस संगठन से संसदीय असहमति तक

कृपलानी का संसदीय व्यक्तित्व उनके लंबे कांग्रेस संगठनात्मक अनुभव से बना। 1930 के दशक से 1940 के दशक के मध्य तक कांग्रेस महासचिव के रूप में उन्होंने संगठन, प्रांतीय समितियों और आंदोलन-प्रबंधन को निकट से देखा। 1946 में कांग्रेस अध्यक्ष बनने के बाद वे उस संक्रमणकाल में संगठन के प्रमुख थे जब औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र सरकार की ओर सत्ता का हस्तांतरण हो रहा था। स्वतंत्रता के बाद यहीं से एक मूलभूत प्रश्न पैदा हुआ—सत्तारूढ़ दल और उसकी सरकार के बीच संबंध क्या हों?

शोध-प्रबंध में कृपलानी का मत यह बताया गया है कि पार्टी को सरकार पर व्यापक राजनीतिक और नैतिक निगरानी रखनी चाहिए। प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल प्रशासन चलाएँ, पर पार्टी संगठन नीति और जनता के बीच सेतु बना रहे। नेहरू और अन्य वरिष्ठ नेताओं का दृष्टिकोण अधिक सरकारी स्वायत्तता की ओर था। इस मतभेद का परिणाम कृपलानी के कांग्रेस अध्यक्ष पद से त्यागपत्र और बाद में कांग्रेस से अलगाव के रूप में सामने आया।

इस बहस का ऐतिहासिक महत्त्व यह है कि स्वतंत्रता आंदोलन की पार्टी जब सरकार बनती है, तब उसका संगठनात्मक चरित्र बदलता है। कोठारी (1964) ने कांग्रेस प्रणाली का विश्लेषण करते हुए दिखाया कि कांग्रेस लंबे समय तक राजनीतिक प्रतिस्पर्धा के केंद्र में रही और उसके भीतर तथा बाहर दोनों जगह विरोध और दबाव की धाराएँ सक्रिय थीं। कृपलानी का अनुभव इस संक्रमण के मानवीय और संस्थागत पक्ष को सामने लाता है।

IV. पार्टी-सरकार संबंध और जवाबदेही का प्रश्न

कृपलानी की चिंता केवल इस बात से नहीं थी कि पार्टी अध्यक्ष को कितना अधिकार मिले। उनके तर्क का गहरा पक्ष यह था कि सरकार जनता से दूर न हो जाए। गांधीवादी विचार में सत्ता को सेवा और उत्तरदायित्व से जोड़ा जाता है; कृपलानी इसी आधार पर प्रशासनिक शक्ति को नैतिक नियंत्रण के अधीन मानते थे।

यहाँ एक महत्वपूर्ण अंतर समझना जरूरी है। संसदीय प्रणाली में सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी होती है, न कि केवल सत्तारूढ़ दल के संगठन के प्रति। इसलिए कृपलानी की पार्टी-सर्वोच्चता संबंधी प्रारंभिक मांग को संवैधानिक सिद्धांत का अंतिम रूप नहीं माना जा सकता। किंतु उस मांग के पीछे जो चिंता थी—सरकार का पार्टी और जनता से अलग होकर केंद्रीकृत शक्ति-केंद्र बन जाना—वह लोकतांत्रिक जवाबदेही के व्यापक प्रश्न से जुड़ी थी।

आधुनिक शोध में भी पार्टी संगठन, नेतृत्व और कार्यपालिका के बीच संतुलन को लोकतांत्रिक संस्थाओं के स्वास्थ्य से जोड़ा जाता है। दलीय व्यवस्था के बदलते स्वरूप पर किए गए अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि जब राजनीतिक प्रतिस्पर्धा कमजोर पड़ती है, तब प्रभावी विपक्ष और राजनीतिक दलों के भीतर लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं की भूमिका और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है (छिब्बर एवं वर्मा; 2019; जाफ़रलो एवं वर्नियर्स; 2020)। इस दृष्टि से कृपलानी की शुरुआती बहस एक दीर्घकालिक संस्थागत प्रश्न का प्रारंभिक रूप थी।

V. कांग्रेस से अलगाव और वैकल्पिक राजनीति

1951 में कृपलानी ने कांग्रेस से अलग होकर किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना में केंद्रीय भूमिका निभाई। यह कदम स्वतंत्र भारत में विपक्षी राजनीति की संस्थागत खोज का हिस्सा था। पहली आम चुनाव में यह दल सीमित सफलता प्राप्त कर सका और बाद में समाजवादी पार्टी के साथ मिलकर प्रजा सोशलिस्ट पार्टी बना। यह प्रक्रिया दिखाती है कि शुरुआती भारतीय लोकतंत्र में कांग्रेस के बाहर वैकल्पिक राजनीतिक मंच बनाना आसान नहीं था।

कोठारी (1964) के 'कांग्रेस सिस्टम' में विपक्षी समूह कई बार सत्ता के विकल्प से अधिक दबाव और आलोचना के केंद्र के रूप में कार्य करते थे। कृपलानी की राजनीति इसी संरचना में देखी जा सकती है। उनकी पार्टियाँ लंबे समय तक

राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस की बराबरी नहीं कर सकीं, लेकिन उन्होंने वैकल्पिक आर्थिक नीति, विकेंद्रीकरण, नागरिक अधिकार और संसदीय जवाबदेही जैसे प्रश्नों को सार्वजनिक बहस में बनाए रखा।

विपक्ष की इस भूमिका को बाद के अध्ययन अधिक व्यवस्थित रूप में समझाते हैं। मल्होत्रा (2001) ने संसदीय लोकतंत्र में विपक्ष की दोहरी भूमिका बताई—सरकार की रचनात्मक आलोचना और वैकल्पिक शासन की संभावना। कृपलानी की राजनीति में पहला तत्व विशेष रूप से स्पष्ट था। वे सरकार की हर नीति का विरोध नहीं करते थे; उनका जोर उन मुद्दों पर था जहाँ उन्हें केंद्रीकरण, तैयारी की कमी, अधिकारों का उल्लंघन या जवाबदेही की कमी दिखाई देती थी।

VI. संसदीय वाद-विवाद और असहमति की संस्कृति

कृपलानी का संसदीय व्यवहार उनकी सार्वजनिक छवि का केंद्रीय हिस्सा बना। संसद में वे आर्थिक नीति, चीन संबंधी नीति, रक्षा तैयारी, भ्रष्टाचार, नागरिक अधिकार और प्रशासनिक केंद्रीकरण पर बोलते थे। उनके भाषणों का महत्त्व केवल विषयों में नहीं, बल्कि इस विचार में था कि सरकार से तीखे प्रश्न पूछना लोकतंत्र-विरोध नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का हिस्सा है।

भारत की शुरुआती संसद में विपक्ष संख्यात्मक रूप से कमजोर था, फिर भी बहस की गुणवत्ता और संसदीय प्रक्रिया ने राजनीतिक जवाबदेही का एक ढाँचा बनाया। दास (2001) ने नेहरू-युग की राजनीति में केंद्रीकरण और राजनीतिक संस्थाओं के बदलते संतुलन की ओर ध्यान दिलाया है। इस संदर्भ में कृपलानी जैसे सांसद कार्यपालिका पर नैतिक और राजनीतिक दबाव उत्पन्न करते थे।

कृपलानी का दृष्टिकोण इस विचार से जुड़ा था कि बहुमत लोकतंत्र की आवश्यक शर्त है, पर पर्याप्त शर्त नहीं। अल्पमत की आवाज, प्रश्न पूछने की स्वतंत्रता और असहमति को संस्थागत स्थान मिलना चाहिए। पराशर (2022) गांधीवादी लोकतंत्र की परंपरा में प्रतिनिधिक संस्थाओं के साथ नैतिक और सहभागी लोकतंत्र की चर्चा करते हैं। कृपलानी की संसदीय शैली में इसी वैचारिक पृष्ठभूमि की छाप दिखाई देती है।

VII. 1963 का प्रथम अविश्वास प्रस्ताव

भारतीय संसदीय इतिहास में 1963 का अविश्वास प्रस्ताव कृपलानी की सबसे प्रसिद्ध संसदीय कार्रवाइयों में से एक है। चीन के साथ 1962 के युद्ध के बाद उन्होंने नेहरू सरकार के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत किया। संसद के आधिकारिक अभिलेखों के अनुसार यह स्वतंत्र भारत की लोकसभा में स्वीकार किया गया पहला अविश्वास प्रस्ताव था और इस पर कई दिनों तक विस्तृत बहस हुई। प्रस्ताव पारित नहीं हुआ, लेकिन इसने यह स्थापित किया कि सरकार के बहुमत और कार्यप्रदर्शन को औपचारिक संसदीय चुनौती दी जा सकती है।

अविश्वास प्रस्ताव का लोकतांत्रिक महत्त्व केवल सरकार गिराने की क्षमता में नहीं होता। यह कार्यपालिका की नीतियों को केंद्रित बहस के लिए संसद के सामने लाता है। मल्होत्रा (2001) ने संसदीय विपक्ष की निगरानीकारी भूमिका का विश्लेषण करते हुए ऐसे संसदीय उपकरणों को उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने वाली संस्थागत व्यवस्था का महत्वपूर्ण हिस्सा माना है।

इस संदर्भ में कृपलानी द्वारा 1963 में प्रस्तुत प्रस्ताव को भारतीय संसदीय लोकतंत्र में सत्ता की जवाबदेही सुनिश्चित करने वाली विपक्षी पहल की एक प्रारंभिक और महत्वपूर्ण मिसाल के रूप में देखा जा सकता है।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि प्रस्ताव का पराजित होना कृपलानी की राजनीतिक विफलता का सरल प्रमाण नहीं था और न ही उसका प्रस्तुत होना सरकार की नीति पर अंतिम निर्णय था। संसदीय अर्थ में इसका महत्व प्रक्रिया में था— विपक्ष ने राष्ट्रीय सुरक्षा और शासन पर गंभीर प्रश्नों को औपचारिक रूप से बहस के लिए रखा।

VIII. विपक्ष की अवधारणा: विरोध से अधिक उत्तरदायित्व

कृपलानी के लिए विपक्ष का अर्थ केवल सत्ता की आलोचना नहीं था। वे मानते थे कि विपक्ष को वैकल्पिक सोच, तथ्य और नैतिक दृष्टि प्रस्तुत करनी चाहिए। यह अवधारणा आधुनिक संसदीय अध्ययन में 'उत्तरदायी विपक्ष' की धारणा से मेल खाती है। मल्होत्रा (2001) ने भी रचनात्मक आलोचना को विपक्ष की बुनियादी भूमिका के रूप में स्वीकार किया है। कुमार (2024) ने 1970 के दशक की विपक्षी राजनीति का अध्ययन करते हुए स्पष्ट किया कि संगठनात्मक कमजोरियों के बावजूद विपक्ष ने संसद के भीतर और जन-आंदोलनों के माध्यम से, दोनों स्तरों पर, लोकतांत्रिक प्रतिरोध की प्रभावी क्षमता विकसित की। इस प्रकार विपक्ष की भूमिका केवल सरकार की आलोचना तक सीमित नहीं रही, बल्कि लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, जनमत की अभिव्यक्ति और सत्ता पर संस्थागत नियंत्रण को सुदृढ़ करने तक विस्तृत हुई।

कृपलानी की राजनीति में यह रूप 1950 और 1960 के दशकों में ही दिखाई देता है। वे कांग्रेस के विकल्प के लिए दल बनाते हैं, लेकिन किसी एक वैचारिक गठबंधन में स्थायी रूप से समाहित नहीं हो पाते। यह उनकी ताकत भी थी और सीमा भी। स्वतंत्र रुख उन्हें विभिन्न सरकारों की आलोचना की स्वतंत्रता देता था, पर मजबूत संगठनात्मक आधार के अभाव में उनकी राजनीतिक प्रभाव-क्षमता सीमित रहती थी।

IX. नागरिक स्वतंत्रता और राज्य की शक्ति

कृपलानी की लोकतांत्रिक सोच का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष नागरिक स्वतंत्रता था। वे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, न्यायपालिका की स्वायत्तता और बिना मुकदमे के लंबे निरोध जैसे प्रश्नों पर सरकार की शक्ति को सीमित करने के पक्षधर थे। उनका तर्क था कि स्वतंत्रता आंदोलन का उद्देश्य केवल विदेशी शासन का अंत नहीं, बल्कि नागरिक की स्वतंत्र स्थिति का निर्माण भी था।

राज्य की शक्ति और नागरिक स्वतंत्रता के बीच यह तनाव स्वतंत्र भारत की राजनीति का स्थायी प्रश्न रहा है। कविराज (1984) ने भारतीय राजनीतिक संस्थाओं के संकट का विश्लेषण करते हुए संस्थागत नियमों, राजनीतिक वैधता और सत्ता-संबंधों के बीच मौजूद गहरे संबंध को रेखांकित किया है। कृपलानी की चिंता इसी व्यापक प्रश्न से जुड़ी थी: क्या लोकतांत्रिक चुनाव अपने आप राज्य की हर कार्रवाई को वैध बना देते हैं, या सरकार को संवैधानिक अधिकारों और सार्वजनिक जवाबदेही की सीमाओं में रहना चाहिए?

X. 1975-77 का आपातकाल और लोकतांत्रिक अधिकार

25 जून 1975 को घोषित आपातकाल भारतीय लोकतंत्र के इतिहास का अत्यंत विवादित और महत्वपूर्ण चरण था। इस अवधि में विपक्षी नेताओं की गिरफ्तारियाँ हुईं, प्रेस पर सेंसरशिप लागू हुई और नागरिक स्वतंत्रताओं पर व्यापक प्रतिबंध लगाए गए। इस समय तक कृपलानी आयु के अंतिम चरण में थे, फिर भी उन्होंने आपातकाल और अधिकार-प्रतिबंधों का विरोध किया। शोध-प्रबंध में उनकी भूमिका को नागरिक स्वतंत्रताओं की रक्षा और विपक्षी एकता के समर्थन से जोड़ा गया है।

आपातकाल पर आधुनिक शोध भी संसद, प्रेस और नागरिक समाज पर लगाए गए प्रतिबंधों को लोकतांत्रिक संस्थाओं की गंभीर परीक्षा के रूप में देखता है। कुमार (2024) ने स्पष्ट किया है कि 1970 के दशक में भारतीय विपक्ष की प्रतिरोधक क्षमता आपातकाल से पहले ही विकसित होने लगी थी और आपातकाल के दौरान उसने अधिक संगठित स्वरूप ग्रहण किया। सिंह (2018) ने सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों और प्रतिनिधित्वों के माध्यम से उस काल में सेंसरशिप, भय, दमन और राजनीतिक नियंत्रण से जुड़ी स्मृतियों का विश्लेषण किया है। इन अध्ययनों के आलोक में कृपलानी की भूमिका को केवल किसी एक दल के विपक्षी नेता के रूप में सीमित करके नहीं देखा जा सकता। उनकी राजनीतिक सक्रियता लोकतांत्रिक स्वतंत्रताओं, नागरिक अधिकारों और सत्ता के प्रति सार्वजनिक उत्तरदायित्व की रक्षा के लिए उभरे व्यापक विपक्षी प्रयासों से जुड़ी हुई दिखाई देती है। इस प्रकार कृपलानी की भूमिका उस राजनीतिक परंपरा का महत्वपूर्ण हिस्सा थी, जिसने केंद्रीकृत सत्ता के विरुद्ध लोकतांत्रिक प्रतिरोध और नागरिक स्वतंत्रताओं के संरक्षण पर बल दिया।

XI. जे. पी. आंदोलन और विपक्षी एकता

1970 के दशक में कृपलानी जयप्रकाश नारायण के लोकतांत्रिक आंदोलन के साथ जुड़े। दोनों गांधीवादी पृष्ठभूमि से आए थे और केंद्रीकरण तथा भ्रष्टाचार के प्रश्नों पर आलोचनात्मक थे। आपातकाल के दौरान और उसके बाद विभिन्न विपक्षी दलों को एक मंच पर लाने की प्रक्रिया में कृपलानी की नैतिक और संवादकारी भूमिका का उल्लेख शोध-प्रबंध में किया गया है।

यहाँ भी सावधानी जरूरी है। 1977 में जनता पार्टी की सफलता को किसी एक नेता की उपलब्धि नहीं कहा जा सकता। वह कई दलों, सामाजिक समूहों, आपातकाल-विरोधी जनभावना, न्यायिक और राजनीतिक घटनाओं तथा व्यापक चुनावी प्रक्रिया का परिणाम था। कृपलानी का योगदान इस सामूहिक प्रक्रिया के भीतर था—विशेषकर विभिन्न विचारधाराओं के नेताओं के बीच संवाद और लोकतांत्रिक अधिकारों की साझा भाषा बनाने में।

XII. कृपलानी की संसदीय राजनीति की सीमाएँ

कृपलानी के लोकतांत्रिक योगदान का संतुलित मूल्यांकन उनकी सीमाओं के बिना अधूरा है। पहली सीमा संगठनात्मक थी। किसान मजदूर प्रजा पार्टी और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी स्थायी, अखिल भारतीय चुनावी शक्ति नहीं बन सकीं। दूसरी सीमा वैचारिक गठबंधन की थी। कांग्रेस-विरोध के कारण कृपलानी कभी-कभी ऐसे समूहों के साथ भी

सहयोग करते दिखे जिनकी आर्थिक या सामाजिक दृष्टि उनसे अलग थी। तीसरी सीमा यह थी कि उनकी नैतिक आलोचना कई बार विस्तृत प्रशासनिक विकल्प से कम जुड़ी दिखाई देती थी।

इसके अतिरिक्त, पार्टी और सरकार के संबंध पर उनकी आरंभिक धारणा—जिसमें पार्टी संगठन को सरकार पर मजबूत नियंत्रण देना था—संसदीय संवैधानिकता के दृष्टिकोण से बहस योग्य थी। चुनी हुई सरकार की जवाबदेही संसद और संविधान के प्रति होती है; पार्टी संगठन का अत्यधिक नियंत्रण भी लोकतांत्रिक समस्या पैदा कर सकता है। इसलिए कृपलानी के विचार को अंतिम संस्थागत समाधान की बजाय उत्तरदायित्व की चिंता के रूप में पढ़ना अधिक उपयुक्त है।

XIII. भारतीय लोकतंत्र में उनकी ऐतिहासिक भूमिका का मूल्यांकन

कृपलानी की ऐतिहासिक भूमिका तीन स्तरों पर देखी जा सकती है। पहला, उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन से सत्ता-व्यवस्था में बदलती कांग्रेस के भीतर संगठन और सरकार के संबंध का प्रश्न उठाया। दूसरा, उन्होंने विपक्षी राजनीति को वैचारिक सम्मान देने की कोशिश की और बहुदलीय प्रतिस्पर्धा को लोकतंत्र के लिए आवश्यक माना। तीसरा, उन्होंने संसद और सार्वजनिक जीवन में असहमति को वैध राजनीतिक व्यवहार के रूप में अपनाया।

कोठारी (1964) के विश्लेषण में कांग्रेस व्यवस्था के भीतर विपक्ष और विभिन्न दबाव-समूह सत्ता-संतुलन बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस दृष्टि से कृपलानी को प्रारंभिक दौर में सत्ता के विरुद्ध सक्रिय और स्पष्ट विपक्षी दबाव की एक महत्वपूर्ण मिसाल के रूप में देखा जा सकता है। कुमार (2024) के अनुसार 1970 के दशक तक भारतीय विपक्ष ने राजनीतिक प्रतिरोध और संगठित चुनौती की अपेक्षाकृत अधिक स्थायी क्षमता विकसित कर ली थी। कृपलानी की दीर्घ राजनीतिक यात्रा इस विकास-क्रम को 1950 के दशक से 1970 के दशक तक जोड़ती है और भारतीय लोकतंत्र में विपक्ष की क्रमिक सुदृढ़ता को समझने के लिए एक उपयोगी संदर्भ प्रदान करती है।

आज की राजनीति पर कोई वर्तमान पक्षीय निष्कर्ष निकाले बिना भी यह कहा जा सकता है कि कृपलानी की विरासत कुछ संस्थागत प्रश्नों को समझने में उपयोगी है: संसद सरकार को कैसे जवाबदेह बनाती है, विपक्ष का उद्देश्य क्या है, बहुमत और असहमति का संबंध कैसा होना चाहिए, और नागरिक अधिकारों पर राज्य की शक्ति की सीमा कहाँ है।

XIV. निष्कर्ष

आचार्य जे. बी. कृपलानी का स्वतंत्र भारत का राजनीतिक जीवन संसदीय लोकतंत्र के संस्थागत विकास का एक महत्वपूर्ण अध्ययन-क्षेत्र है। उनकी भूमिका को केवल कांग्रेस-विरोध या नेहरू-विरोध तक सीमित करना उनके राजनीतिक अर्थ को संकुचित करेगा। उनका मुख्य योगदान उन प्रश्नों में दिखाई देता है जिन्हें उन्होंने लगातार उठाया—सरकार की जवाबदेही, पार्टी और राज्य के संबंध, संसदीय असहमति, विपक्ष की वैधता और नागरिक स्वतंत्रता।

1963 का अविश्वास प्रस्ताव उनके संसदीय हस्तक्षेप का सबसे स्पष्ट संस्थागत उदाहरण था। 1975-77 के आपातकाल के समय उनका सार्वजनिक विरोध नागरिक स्वतंत्रताओं के प्रति उनकी दीर्घकालिक प्रतिबद्धता से जुड़ा था। साथ ही

उनकी राजनीति की सीमाएँ भी स्पष्ट थीं: मजबूत चुनावी संगठन का अभाव, विपक्षी गठबंधनों की अस्थिरता और नैतिक आदर्श तथा प्रशासनिक व्यवहार के बीच तनाव।

फिर भी कृपलानी का अध्ययन भारतीय लोकतंत्र की एक मूलभूत सच्चाई की ओर ध्यान दिलाता है—लोकतंत्र केवल चुनावी बहुमत से नहीं चलता; उसे प्रश्न, आलोचना, संस्थागत नियंत्रण, स्वतंत्र नागरिक क्षेत्र और वैध विपक्ष की आवश्यकता होती है। इस अर्थ में उनकी राजनीतिक यात्रा स्वतंत्र भारत में असहमति और जवाबदेही की संस्कृति के विकास को समझने के लिए उपयोगी ऐतिहासिक स्रोत है।

References

- [1] कोठारी, आर. (1964)। भारत में कांग्रेस 'व्यवस्था'। एशियन सर्वे, 4(12), 1161–1173।
- [2] कुमार, आर. (2024)। 1970 के दशक में भारत के सुदृढ़ विपक्ष का निर्माण। साउथ एशियन सर्वे, 31(1), 102–123।
- [3] मल्होत्रा, जी. सी. (2001)। लोकतंत्र की सुरक्षा: भारतीय संसद में विपक्ष की भूमिका। द जर्नल ऑफ पार्लियामेंटरी इन्फॉर्मेशन, 47(2), 3–20।
- [4] पराशर, टी. (2022)। संसद से परे: गांधीवादी लोकतंत्र और उत्तर-औपनिवेशिक स्थापना। पॉलिटिकल थ्योरी, 50(6), 893–920।
- [5] सिंह, पी. (2018)। ग्राफिक दिल्ली: विश्वज्योति घोष की दिल्ली कैल्म में भारतीय आपातकाल, 1975–1977 का आख्यान। साउथ एशियन रिव्यू, 39(1–2), 86–103।
- [6] दास, एस. (2001)। भारतीय राजनीति में नेहरू काल। एडिनबरा पेपर्स इन साउथ एशियन स्टडीज़, 16, 1–32।
- [7] कुमार, आर. (2025)। अर्ध-लोकतांत्रिक कल्पना: संविधान सभा ने संसदीय विपक्ष की परिकल्पना किस प्रकार की। नेशनल लॉ स्कूल जर्नल, 18(5)।
- [8] ऑस्टिन, जी. (1964)। भारतीय संविधान और सामाजिक क्रांति: एक संवैधानिक परिप्रेक्ष्य। जर्नल ऑफ एशियन स्टडीज़, 23(3), 391–410।
- [9] ब्रास, पी. आर. (1965)। एक भारतीय राज्य में गुटीय राजनीति: उत्तर प्रदेश में कांग्रेस पार्टी। एशियन सर्वे, 5(7), 344–357।
- [10] वीनर, एम. (1957)। भारत में दलीय राजनीति और चुनावी प्रतिस्पर्धा। पैसिफिक अफेयर्स, 30(3), 243–257।
- [11] कविराज, एस. (1984)। भारत में राजनीतिक संस्थाओं के संकट पर। कॉन्ट्रिब्यूशन्स टू इंडियन सोशियोलॉजी, 18(2), 223–243।
- [12] रूडोल्फ, एल. आई., एवं रूडोल्फ, एस. एच. (1977)। नौकरशाही और पैतृक प्रशासन में प्राधिकार तथा शक्ति: भारतीय राजनीति की एक पुनर्व्याख्यात्मक व्याख्या। वर्ल्ड पॉलिटिक्स, 29(2), 195–227।

- [13] जाफ़रलो, सी., एवं वर्नियर्स, जी. (2020)। एक नई दलीय व्यवस्था या एक नई राजनीतिक व्यवस्था? कंटेम्पररी साउथ एशिया, 28(2), 141–154।
- [14] छिब्बर, पी., एवं वर्मा, आर. (2019)। भारत में दूसरी प्रभुत्वशाली दलीय व्यवस्था का उदय। स्टडीज़ इन इंडियन पॉलिटिक्स, 7(2), 131–148।